अनेकान्तवाद

दो मौलिक विचार-धाराएँ—

विश्व का विचार करनेवाली परस्पर भिन्न ऐसी मुख्य दो दृष्टियाँ हैं। एक है सामान्यगामिनी और दूसरी है विशेषगामिनी। पहली दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है पर वह धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते अन्त में सारे विश्व को एक ही मूल में देखती है और फलतः निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतरकर अन्त में वह दृष्टि तात्त्विक—एकता की भूमिका पर आकर ठहरती है। उस दृष्टि में जो एक मात्र विषय स्थिर होता है, वही सत् है। सत् तत्व में आत्यन्तिक रूप से निमग्न होने के कारण वह दृष्टि या तो भेदों को देख ही नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कहकर छोड़ ही देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होने वाले भेद कालकृत हों अर्थात कालपट पर फैले हुए हों जैसे पूर्वापररूप बीज, अंकुर आदि; या देशकृत हों अर्थात् देशपट पर वितत हों जैसे समकालीन घट, पट आदि प्रकृति के परिणाम; या द्रव्यगत अर्थात् देशकाल-निरपेक्ष साहजिक हों जैसे प्रकृति, पुरुष तथा अनेक पुरुष।

इसके विरुद्ध दूसरी दृष्टि सारे विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे-धीरे उस असमानता की जड़ की खोज करते-करते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः वह निश्चय कर लेती है कि विश्व एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न ऐसे भेदों का पुंज मात्र है। वस्तुतः उसमें न कोई वास्तविक एक तत्त्व है और न साम्य ही। चाहे वह एक तत्त्व समग्र देश-काल व्यापी समझा जाता हो जैसे प्रकृति; या द्रव्यभेद होने पर भी मात्र कालव्यापी एक समझा जाता हो जैसे परमाणु।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मूल में ही भिन्न हैं, क्योंकि एक का आधार समन्वय मात्र है और दूसरी का आधार विश्लेषण मात्र। इन मूलभूत दो विचार सरणियों के कारण अनेक मुद्दों पर अनेक विरोधी वाद आप ही आप खड़े हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम देखते हैं कि सामान्यगामिनी पहली दृष्टि में से समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल विनिर्मुक्त ऐसे एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैत का वाद स्थापित हुआ; जिसने एक तरफ से सकल भेदों को और तद्ग्राहक प्रमाणों को मिथ्या बतलाया और साथ ही सत् तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कहकर मात्र अनुभवगम्य कहा । दूसरी विशेषगामिनी दृष्टि में से भी केवल देश और काल भेद से ही भिन्न नहीं बल्कि स्वरूप से भी भिन्न ऐसे अनंत भेदों का वाद स्थापित हुआ । जिसने एक ओर से सब प्रकार के अभेदों को मिथ्या बतलाया और दूसरी ओर से अंतिम भेदों को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कहकर मात्र अनुभवगम्य बतलाया । ये दोनों वाद अंत में शून्यता तथा स्वानुभवगम्यता के परिणाम पर पहुँचे सही, पर दोनों का लक्ष्य अत्यन्त भिन्न होने के कारण वे आपस में बिलकुल ही टकराने और परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ने लगे ।

भेदवाद-अभेदवाद—

उक्त दो मूलभूत विचारधाराओं में से फूटनेवाली या उनसे संबंध रखने वाली भी अनेक विचार धाराएँ प्रवाहित हुईं । किसी ने अभेद को तो अपनाया, पर उसकी व्याप्ति काल और देश पट तक अथवा मात्र कालपट तक रखी । स्वरूप या द्रव्य तक उसे नहीं बढ़ाया । इस विचारधारा में से अनेक द्रव्यों को मानने पर भी उन द्रव्यों की कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता के वाद का जन्म हुआ जैसे सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद, दूसरी विचार धारा ने उसकी अपेक्षा भेद का क्षेत्र बढ़ाया जिससे उसने कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता मानकर भी स्वरूपतः जड़ द्रव्यों को अधिक संख्या में स्थान दिया जैसे परमाणु, विभुद्रव्यवाद आदि ।

अद्वैतमात्र या सन्मात्र को स्पर्श करने वाली दृष्टि किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेकवादों का स्थापन करे, यह स्वाभाविक ही है, हुआ भी ऐसा ही । इसी दृष्टि में से कार्य-कारण के अभेदमूलक मात्र सत्कार्यवाद का जन्म हुआ । धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि द्वंद्वों के अभेदवाद भी उसी में से फलित हुए । जब कि द्वैत और भेद को स्पर्श करने वाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक ही नानावाद स्थापित किये । उसने कार्य-कारण के भेदमूलक मात्र असत्कार्यवाद को जन्म दिया तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि अनेक द्वंद्वों के भेदों को भी मान लिया । इस तरह हम भारतीय तत्त्वचिंतन में देखते हैं कि मौलिक सामान्य और विशेष दृष्टि तथा उनकी अवान्तर सामान्य और विशेष दृष्टियों में से परस्पर विरुद्ध ऐसे अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतों–दर्शनों का जन्म हुआ; जो अपने विरोधीवाद की आधारभूत भूमिका की सत्यता की कुछ भी परवाह न करने के कारण एक दूसरे के प्रहार में ही चरितार्थता मानने लगे।

सद्वाद-असद्वाद—

सद्वाद अद्वैतगामी हो या द्वैतगामी जैसा कि सांख्यादि का, पर वह कार्य-कारण के अभेदमूलक सत्कार्यवाद को बिना माने अपना मूल लक्ष्य सिद्ध ही नहीं कर सकता; जब कि असद्वाद क्षणिकगामी हो जैसे बौद्धों का, स्थिरगामी हो या नित्यगामी हो जैसे वैशेषिक आदि का–पर वह असत्कार्यवाद का स्थापन बिना किये अपना लक्ष्य स्थिर कर ही नहीं सकता। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की पारस्परिक टक्कर हुई। अद्वैतगामी और द्वैतगामी सद्वाद में से जन्मी हुई कूटस्थता जो कालिक नित्यता रूप है और विभुता जो दैशिक व्यापकता रूप है उनकी-देश और कालकृत निरंश अंशवाद अर्थात् निरंश क्षणवाद के साथ टक्कर हुई, जो कि वस्तुतः सद्दर्शन के विरोधी दर्शन में से फलित होता है।

निर्वचनीय-अनिर्वचनीय वाद—

एक तरफ से सारे विश्व को अखण्ड और एक तत्त्वरूप माननेवाले और दूसरी तरफ से उसे निरंश अंशपुंज माननेवाले–अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर सकते थे जब कि वे अपने अभीष्ट तत्त्व को अनिर्वचनीय अर्थात् अनभिलाप्य-शब्दागोचर मानें, क्योंकि शब्द के द्वारा निर्वचन मानने पर न तो अखण्ड सत् तत्त्व की सिद्धि हो सकती है और न निरंश भेद तत्त्व की। निर्वचन करना ही मानों अखण्डता या निरंशता का लोप कर देना है। इस तरह अखण्ड और निरंशवाद में से अनिर्वचनीयवाद आप ही आप फलित हुआ। पर उस वाद के सामने लक्षणवादी वैशेषिक आदि तार्किक हुए, जो ऐसा मानते हैं कि वस्तु मात्र का निर्वचन करना या लक्षण बनाना शक्य ही नहीं बल्कि वास्तविक भी हो सकता है। इसमें से निर्वचनीयत्ववाद का जन्म हुआ और तब अनिर्वचनीय तथा निर्वचनीयवाद आपस में टकराने लगे।

हेतुवाद-अहेतुवाद आदि—

इसी प्रकार कोई मानते थे कि प्रमाण चाहे जो हो पर हेतु अर्थात् तर्क के बिना किसी से अन्तिम निश्चय करना भयास्पद है। जब दूसरे कोई मानते थे कि हेतुवाद स्वतन्त्र बल नहीं रखता। ऐसा बल आगम में ही होने से वही मूर्धन्य प्रमाण है। इसी से वे दोनों वाद परस्पर टकराते थे। दैवज्ञ कहता था कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब कुछ दैवाधीन है; पौरुष स्वतंत्ररूप से कुछ कर नहीं सकता । पौरुषवादी ठीक इससे उलटा कहता था कि पौरुष ही स्वतंत्रभाव से कार्य करता है । अतएव वे दोनों वाद एक दूसरे को असत्य मानते रहे । अर्थनय—पदार्थवादी शब्द की और शब्दनय—शाब्दिक अर्थ की परवाह न करके परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त थे । कोई अभाव को भाव से पृथक ही मानता तो दूसरा कोई उसे भाव स्वरूप ही मानता था और वे दोनों भाव से अभाव को पृथक मानने न मानने के बारे में परस्पर प्रतिपक्ष भाव धारण करते रहे । कोई प्रमाता से प्रमाण और प्रमिति को अत्यन्त भिन्न मानते तो दूसरे कोई उससे उन्हें अभिन्न मानते थे । कोई वर्णाश्रम विहित कर्म मात्र पर भार देकर उसी से इष्ट प्राप्ति बतलाते तो कोई ज्ञान मात्र से आनन्दाप्ति का प्रतिपादन करते जब तीसरे कोई भक्ति को ही परम पद का साधन मानते रहे और वे सभी एक दूसरे का आवेशपूर्वक खण्डन करते रहे । इस तरह तत्त्वज्ञान व आचार के छोटे-बड़े अनेक मुद्दों पर परस्पर बिलकुल विरोधी ऐसे अनेक एकान्त मत प्रचलित हुए ।

अनेकान्त-दृष्टि से समन्वय—

उन एकान्तों की पारस्परिक वाद-लीला देखकर अनेकान्तदृष्टि के उत्तराधिकारी आचार्यों को विचार आया कि असल में ये सब वाद जो कि अपनी-अपनी सत्यता का दावा करते हैं वे आपस में इतने लड़ते हैं क्यों ? क्या उन सब में कोई तथ्यांश ही नहीं, या सभी में तथ्यांश है, या किसी-किसी में तथ्यांश है, या सभी पूर्ण सत्य है ? इस प्रश्न के अन्तर्मुख उत्तर में से एक चाबी मिल गई, जिसके द्वारा उन्हें सब विरोधों का समाधान हो गया और पूरे सत्य का दर्शन हुआ । वही चाबी अनेकान्तवाद की भूमिका रूप अनेकान्त दृष्टि है । इस दृष्टि के द्वारा उन्होंने देखा कि प्रत्येक सयुक्तिकवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक सत्य है । फिर भी जब कोई एक वाद दूसरे वाद की आधारभूत विचार-सरणी और उस वाद की सीमा का विचार नहीं करता प्रत्युत अपनी आधारभूत दृष्टि तथा अपने विषय की सीमा में ही सब कुछ मान लेता है, तब उसे किसी भी तरह दूसरे वाद की सत्यता मालूम ही नहीं हो पाती । यही हालत दूसरे विरोधी वाद की भी होती है । ऐसी दशा में न्याय इसी में है कि प्रत्येक वाद को उसी विचार-सरणी से उसी सीमा तक ही जाँचा जाय और इस जाँच में वह ठीक निकले तो उसे सत्य का एक भाग मानकर ऐसे सब सत्यांशरूप मणियों को एक पूर्ण सत्यरूप विचार-सूत्र में पिरोकर अविरोधी माला बनाई जाय । इसी विचार ने जैनाचार्यों को अनेकान्तदृष्टि के आधार पर तत्कालीन सब वादों का सम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्वय करने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने सोचा कि जब शुद्ध और निःस्वार्थ चित्त-वालों में से किन्हीं को एकत्वपर्यवसायी साम्यप्रतीति होती है और किन्हीं को निरंश अंश पर्यवसायी भेद प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जाय कि अमुक एक ही प्रतीति प्रमाण है और दूसरी नहीं। किसी एक को अप्रमाण मानने पर तुल्ययुक्ति से दोनों प्रतीतियाँ अप्रमाण ही सिद्ध होंगी। इसके सिवाय किसी एक प्रतीति को प्रमाण और दूसरी को अप्रमाण मानने वालों को भी अन्त में अप्रमाण मानी हुई प्रतीति के विषयरूप सामान्य या विशेष के सार्वजनिक व्यवहार की उपपत्ति तो किसी न किसी तरह करनी ही पड़ती है। यह नहीं कि अपनी इष्ट प्रतीति को प्रमाण कहने मात्र से सब शास्त्रीय लौकिक व्यवहारों की उपपत्ति भी हो जाय। यह भी नहीं कि ऐसे व्यवहारों को उपपन्न किये ही छोड़ दिया जाय। ब्रह्मैकत्ववादी भेदों को व उनकी प्रतीति को अविद्यामूलक ही कह कर उसकी उपपत्ति करेगा, जब कि क्षणिकत्ववादी साम्य या एकत्व को व उसकी प्रतीति को ही अविद्यामूलक कह कर ऐसे व्यवहारों की उपपत्ति करेगा।

ऐसा सोचने पर अनेकान्त के प्रकाश में अनेकान्तवादियों को मालूम हुआ कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी, हैं तो सभी वास्तविक। प्रत्येक प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है पर जब वह विरुद्ध दिखाई देनेवाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तब वह खुद भी अवास्तविक बन जाती है। अभेद और भेद की प्रतीतियाँ विरुद्ध इसी से जान पड़ती हैं कि प्रत्येक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। सामान्य और विशेष की प्रत्येक प्रतीति स्वविषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं। यह प्रमाण का अंश अवश्य है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा ही होना चाहिए, जिससे कि वे विरुद्ध दिखाई देनेवाली प्रतीतियाँ भी अपने स्थान में रहकर उसे अविरोधीभाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें। इस समन्वय या व्यवस्थागर्भित विचार के बल पर उन्होंने समझाया कि सद्-द्वैत और सद्-अद्वैत के बीच कोई विरोध नहीं, क्योंकि वस्तु का पूर्णस्वरूप ही अभेद और भेद या सामान्य और विशेषात्मक ही है। जैसे हम स्थान, समय, रंग, रस, परिमाण आदि का विचार किये बिना ही विशाल जलराशि मात्र का विचार करते हैं तब हमें एक ही एक समुद्र प्रतीत होता है। पर उसी जलराशि के विचार में जब स्थान, समय आदि का विचार दाखिल होता है तब हमें एक अखण्ड समुद्र के स्थान में अनेक छोटे बड़े समुद्र नज़र आते हैं; यहाँ तक कि अन्त में हमारे ध्यान में जलकण तक भी नहीं रहता उसमें केवल कोई अविभाज्य रूप या रस आदि का अंश ही रह जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और अन्त में वह भी शून्यवत् भासित् होता है। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की बुद्धि भी वास्तविक है और अन्तिम अंश की बुद्धि भी। एक इसलिए वास्तविक है कि वह भेदों को अलग-अलग रूप से स्पर्श न करके सब को एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक दूसरे से व्यावृत्त हैं उनको अलग-अलग रूप से विषय करनेवाली बुद्धि भी वास्तविक है; क्योंकि वे भेद वैसे ही हैं। जलराशि एक और अनेक—उभय रूप होने के कारण उसमें होनेवाली समुद्रबुद्धि और अंशबुद्धि अपने-अपने स्थान में यथार्थ होकर भी कोई एक बुद्धि पूर्ण स्वरूप को विषय न करने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं है। फिर भी दोनों मिलकर पूर्ण प्रमाण है। वैसे ही जब हम सारे विश्व को एक मात्र सत्-रूप से देखें अथवा यह कहिए कि जब हम समस्त भेदों के अन्तर्गत एक मात्र अनुगमक सत्ता स्वरूप का विचार करें तब हम कहते हैं कि एक मात्र सत् ही है; क्योंकि उस सर्वग्राही सत्ता के विचार के समय कोई ऐसे भेद भासित नहीं होते जो परस्पर में व्यावृत्त हों। उस समय तो सारे भेद समष्टि रूप में या एक मात्र सत्ता रूप में ही भासित होते हैं; और तभी सद् अद्वैत कहलाता है। एक मात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ भी इतना विशाल हो जाता है कि जिसमें कोई शेष नहीं बचता। पर जब हम उस विश्व को—गुणधर्म कृत भेदों में जो कि परस्पर व्यावृत्त हैं—विभाजित करते हैं; तब वह विश्व एक सत् रूप से मिटकर अनेक सत् रूप प्रतीत होता है। उस समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना ही छोटा हो जाता है। हम कभी कहते हैं कि कोई सत् जड़ भी है और कोई चेतन भी। हम और अधिक भेदों की ओर झुक कर फिर यह भी कहते हैं कि जड़ सत् भी अनेक हैं और चेतन सत् भी अनेक हैं। इस तरह जब सर्वग्राही सामान्य को व्यावर्तक भेदों में विभाजित करके देखते हैं तब हमें नाना सत् मालूम होते हैं और वही सद् द्वैत है। इस प्रकार एक विश्व में प्रवृत्त होने वाली सद्-अद्वैत बुद्धि और सद्-द्वैत बुद्धि दोनों अपने-अपने विषय में यथार्थ होकर भी पूर्ण प्रमाण तभी कही जाएँगी जब वे दोनों सापेक्षरूप से मिलें। यही सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत वाद जो परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं उनका अनेकान्त दृष्टि के अनुसार समन्वय हुआ।

इसे वृक्ष और वन के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब अनेक परस्पर भिन्न वृक्ष व्यक्तियों को उस-उस व्यक्ति रूप से ग्रहण न करके सामूहिक या सामान्य रूप में वनरूप से ग्रहण करते हैं, तब उन सब विशेषों का अभाव नहीं हो जाता। पर वे सब विशेष सामान्यरूप से सामान्य ग्रहण में ही ऐसे लीन हो जाते हैं मानो वे हैं ही नहीं। एक मात्र वन ही वन नज़र आता है यही एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का अद्वैत हुआ। फिर कभी हम जब एक-एक वृक्ष को विशेष रूप से समझते हैं तब हमें परस्पर भिन्न व्यक्तियाँ ही व्यक्तियाँ नजर आती हैं, उस समय विशेष प्रतीति में सामान्य इतना अन्तर्लीन हो जाता है कि मानो वह है नहीं। अब इन दोनों अनुभवों का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक सत्य है और दूसरा असत्य। अपने-अपने विषय में दोनों अनुभवों का समुचित समन्वय ही है। क्योंकि इसी में सामान्य और विशेषात्मक वन-वृक्षों का अबाधित अनुभव समा सकता है। यही स्थिति विश्व के संबन्ध में सद्-अद्वैत किंवा सद्-द्वैत दृष्टि की भी है।

कालिक, दैशिक और देश-कालातीत सामान्य-विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैतवाद के आगे बढ़कर कालिक सामान्य-विशेष के सूचक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। ये दोनों वाद एक दूसरे के विरुद्ध ही जान पड़ते हैं; पर अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं। जब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखण्ड रूप से अर्थात् अनादि-अनन्त रूप से देखेंगे तब वह अखण्ड प्रवाह रूप में आदि अन्त रहित होने के कारण नित्य ही है। पर हम जब उस अखण्ड-प्रवाह पतित तत्त्व को छोटे-बड़े आपेक्षिक काल भेदों में विभाजित कर लेते हैं, तब उस काल पर्यन्त स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नजर आता है, जो सादि भी है और सान्त भी। अगर विवक्षित काल इतना छोटा हो जिसका दूसरा हिस्सा बुद्धिशस्त्र कर न सके तो उस काल से परिच्छिन्न वह तत्त्वगत प्रावाहिक अंश सबसे छोटा होने के कारण क्षणिक कहलाता है। नित्य और क्षणिक ये दोनों शब्द ठीक एक दूसरे के विरुद्धार्थक हैं। एक अनादि-अनन्त का और दूसरा सादि-सान्त का भाव दरसाता है। फिर भी हम अनेकान्त-दृष्टि के अनुसार समझ सकते हैं कि जो तत्त्व अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा नित्य कहा जा सकता है वही तत्त्व खण्ड-खण्ड क्षणपरिमित परिवर्तनों व पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक भी कहा जा सकता है। एक वाद की आधार-दृष्टि है अनादि-अनन्तता की दृष्टि; जब दूसरे की आधार है सादि-सान्तता की दृष्टि। वस्तु का कालिक पूर्ण स्वरूप अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता इन दो अंशों से बनता है। अतएव दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण तभी बनती हैं जब वे समन्वित हों।

इस समन्वय को दृष्टान्त से भी इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। किसी एक वृक्ष का जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में काल-क्रम से होनेवाली बीज, मूल, अँकुर, स्कन्ध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। जब हम अमुक वस्तु को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृक्षरूप से समझते हैं तब उपर्युक्त सब अवस्थाओं में प्रवाहित होनेवाला पूर्ण जीवन-व्यापार ही अखण्ड रूप से मन में आता है पर जब हम उसी जीवन-व्यापार के परस्पर भिन्न ऐसे क्रमभावी मूल, अंकुर, स्कन्ध आदि एक-एक अंश को ग्रहण करते हैं तब वे परिमित काल-लक्षित अंश ही हमारे मन में आते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी तो समूचे जीवन-व्यापार को अखण्ड रूप में स्पर्श करता है और कभी-कभी उसे खण्डित रूप में एक-एक अंश के द्वारा। परीक्षण करके देखने से साफ जान पड़ता है कि न तो अखण्ड जीवन-व्यापार ही एक मात्र पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक मात्र है और न खण्डित अंश ही पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक। भले ही उस अखण्ड में सारे खण्ड और सारे खण्डों में वह एक मात्र अखण्ड समा जाता हो; फिर भी वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो अखण्ड और खण्ड दोनों में ही पर्यवसित होने के कारण दोनों पहलुओं से गृहित होता है। जैसे वे दोनों पहलू अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होकर भी पूर्ण तभी बनते हैं जब समन्वित किये जाएँ, वैसे ही अनादि-अनन्त काल-प्रवाह रूप वृक्ष का ग्रहण नित्यत्व का व्यञ्जक है और उसके घटक अंशों का ग्रहण अनित्यत्व या क्षणिकत्व का द्योतक है। आधारभूत नित्य प्रवाह के सिवाय न तो अनित्य घटक संभव है और न अनित्य घटकों के सिवाय वैसा नित्य प्रवाह ही। अतएव एक मात्र नित्यत्व को या एक मात्र अनित्यत्व को वास्तविक कहकर दूसरे विरोधी अंश को अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्य वादों की टक्कर का बीज है; जिसे अनेकान्त दृष्टि हटाती है।

अनेकान्त दृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व वाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। वह कहती है कि वस्तु का वही रूप प्रतिपाद्य हो सकता है जो संकेत का विषय बन सके। सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला संकेत भी स्थूल अंश को ही विषय कर सकता है। वस्तु के ऐसे अपरिमित भाव हैं जिन्हें संकेत के द्वारा शब्द से प्रतिपादन करना संभव नहीं। इस अर्थ में अखण्ड सत् या निरंश क्षण अनिर्वचनीय ही हैं जब कि मध्यवर्ती स्थूल भाव निर्वचनीय भी हो सकते हैं। अतएव समग्र विश्व के या उसके किसी एक तत्त्व के बारे में जो अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व के विरोधी प्रवाद हैं वे वस्तुतः अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होने पर भी प्रमाण तो समूचे रूप में ही हैं।

एक ही वस्तु की भावरूपता और अभावरूपता भी विरुद्ध नहीं। मात्र विधिमुख से या मात्र निषेधमुख से ही वस्तु प्रतीत नहीं होती दूध, दूध रूप से भी प्रतीत होता है और अदधि या दधिभिन्न रूप से भी। ऐसी दशा में वह भाव-अभाव उभय रूप सिद्ध हो जाता है और एक ही वस्तु में भावत्व या अभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वत्व का विरोध प्रतीति के स्वरूप भेद से हट जाता है । इसी तरह धर्म-धर्मी, कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि द्वन्द्वों के अभेद और भेद के विरोध का परिहार भी अनेकान्त दृष्टि कर देती है ।

जहाँ आप्तत्व और उसके मूल के प्रामाण्य में सन्देह हो वहाँ हेतुवाद के द्वारा परीक्षापूर्वक ही निर्णय करना क्षेमंकर है; पर जहाँ आप्तत्व में कोई सन्देह नहीं वहाँ हेतुवाद का प्रयोग अनवस्था कारक होने से त्याज्य है । ऐसे स्थान में आगमवाद ही मार्गदर्शक हो सकता है । इस तरह विषय-भेद से या एक ही विषय में प्रतिभाद्य भेद से हेतुवाद और आगमवाद दोनों को अवकाश है । उनमें कोई विरोध नहीं । यही स्थिति दैव और पौरुषवाद की भी है । उनमें कोई विरोध नहीं । जहाँ बुद्धि-पूर्वक पौरुष नहीं, वहाँ की समस्याओं का हल दैववाद कर सकता है; पर पौरुष के बुद्धि पूर्वक प्रयोगस्थल में पौरुषवाद ही स्थान पाता है । इस तरह जुदे-जुदे पहलू की अपेक्षा एक ही जीवन में दैव और पौरुष वाद समन्वित किये जा सकते हैं ।

कारण में कार्य को केवल सत् या केवल असत् माननेवाले वादों के विरोध का भी परिहार अनेकान्त-दृष्टि सरलता से कर देती है । वह कहती है कि कार्य उपादान में सत् भी है और असत् भी है । कटक बनने के पहले भी सुवर्ण में कटक बनने की शक्ति है इसलिए उत्पत्ति के पहले भी शक्ति रूप से या कारणाभेद दृष्टि से कार्य सत् कहा जा सकता है । शक्ति रूप से सत् होने पर भी उत्पादक सामग्री के अभाव में वह कार्य आविर्भूत या उत्पन्न न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वह असत् भी है । तिरोभाव दशा में जब कि कटक उपलब्ध नहीं होता तब भी कुण्डलाकार-धारी सुवर्ण कटक रूप बनने की योग्यता रखता है, इसलिए उस दशा में असत् भी कटक योग्यता की दृष्टि से सुवर्ण में सत् कहा जा सकता है ।

बौद्धों का केवल परमाणु-पुञ्जवाद और नैयायिकों का अपूर्वावयवी वाद—ये दोनों आपस में टकराते हैं । पर अनेकान्त-दृष्टि ने स्कन्ध का—जो कि न केवल परमाणु-पुञ्ज है और न अनुभव-बाधित अवयवों से भिन्न अपूर्व अवयवी रूप है, स्वीकार करके विरोध का समुचित रूप से परिहार व दोनों वादों का निर्दोष समन्वय कर दिया है । इसी तरह अनेकान्त दृष्टि ने अनेक विषयों में प्रवर्तमान विरोधी-वादों का समन्वय मध्यस्थ भाव से किया है । ऐसा करते समय अनेकान्त वाद के आस-पास नयवाद और भङ्गवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं, क्योंकि जुदे-जुदे पहलू या दृष्टिबिन्दु का पृथक्करण, उनकी विषय मर्यादा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभाग और उनका एक विषय में यथोचित विन्यास करने ही से अनेकान्त सिद्ध होता है।

अपेक्षा या नय—

मकान किसी एक कोने में पूरा नहीं होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नहीं होते। पूर्व पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध दिशा वाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जानेवाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह अयथार्थ भी नहीं। जुदे-जुदे सम्भवित सभी कोनों पर खड़े रहकर किये जाने वाले सभी सम्भवित अवलोकनों का सार समुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसम्भवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन का अनिवार्य अङ्ग है। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिन्तन-दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पड़नेवाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं; जिनका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टि-कोण या दृष्टि-बिन्दु भी कही जाती हैं। सम्भवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जानेवाले चिन्तन व दर्शनों का सारसमुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासम्भवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक-एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है

जब किसी की मनोवृत्ति विश्व के अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण, धर्म या स्वरूप कृत हों या व्यक्तित्वकृत हों—भुलाकर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होनेवाला 'सत्' शब्द के एक मात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन ही संग्रह नय है। गुण धर्म कृत या व्यक्तित्व कृत भेदों की ओर झुकनेवाली मनोवृत्ति से किया जानेवाला उसी विश्व का दर्शन व्यवहार नय कहलाता है; क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप से भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन के 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा अखण्डित न रहा कर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा—सिर्फ कालकृत भेदों की ओर झुककर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत् रूप से देखती है और अतीत अनागत को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा में से हट्ट देती है तब उसके द्वारा फलित होने वाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है। क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़कर सिर्फ वर्त्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शब्द या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय बिना लिये ही किसी भी वस्तु का चिन्तन करती हैं। अतएव वे तीनों प्रकार के चिन्तन अर्थ नय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है जो शब्द के गुण धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थचिन्तन शब्द नय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यतया शब्द नय के अधिकारी हैं; क्योंकि उन्हीं के विविध दृष्टि-बिन्दुओं से शब्दनय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दों को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद न मानने पर भी लिङ्ग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्दधर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्द नय या साम्प्रत नय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्ति सिद्ध ही माननेवाली मनोवृत्ति से विचार करनेवाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जानेवाले शब्दों के अर्थ में भी व्युत्पत्ति भेद से भेद बतलाते हैं। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दों के अर्थ भेद का दर्शन समभिरूढ़ नय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होनेवाले अर्थ की मौजूदगी और गैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थ भेद मानता है वह एवंभूत नय कहलाता है। इन तार्किक छः नयों के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है। जिसमें निगम अर्थात् देश रूढ़ि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारों का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं। पर किसी एक अंश को अर्थात् दृष्टि-कोण को अवलम्बित करके प्रवृत्त होनेवाले सब प्रकार के विचार उस-उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

शास्त्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं पर वे नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नहीं हैं किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिका मात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करनेवाला विचार मार्ग द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलम्बित करके ही चलती है। इसलिए वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी द्रव्यार्थिक ही माने गये हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होनेवाला विचार पथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोड़कर एक मात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है इसलिए उसी को शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूलाधार कहा है। पिछले तीन नय उसी मूलभूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

केवल ज्ञान को उपयोगी मान कर उसके आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचार धारा ज्ञान नय है तो केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा क्रिया नय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्ण दर्शन-अनेकान्त भी निस्सीम है।

सप्तभंगी—

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हीं के आधार पर भंगवाद की सृष्टि खड़ी होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो सम्भवित वाक्य-भङ्ग बनाये जाते हैं वही सप्तभंगी है। सप्तभंगी का आधार नयवाद है, और उसका ध्येय तो समन्वय है अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है; जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का दूसरे को बोध कराने के लिए परार्थ अनुमान अर्थात् अनुमान वाक्य की रचना की जाती है, वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भंग वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भंगवाद अनेकान्त दृष्टि के क्षेत्र में आप ही आप फलित हो जाते हैं।

दर्शनान्तर में अनेकान्तवाद—

यह ठीक है कि वैदिक परम्परा के न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में तथा बौद्ध दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि[1] भी देखी जाती है। फिर भी प्रत्येक वस्तु

१—उदाहरणार्थ देखो सांख्यप्रवचनभाष्य पृष्ठ २। सिद्धान्त बिन्दु पृ० ११६ से। वेदान्तसार पृ० २५। तर्क संग्रह दीपिका पृ० १७५। महावग्ग ६. ३१। प्रमाणमीमांसाटिप्पण पृ० ६१ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसके प्रत्येक पहलू पर संभवित समग्र दृष्टि बिन्दुओं से विचार करने का आत्यंतिक आग्रह तथा उन समग्र दृष्टि बिन्दुओं के एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन परम्परा के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। इसी आग्रह में से जैन तार्किकों ने अनेकान्त, नय और सप्त-भंगी वाद का बिल्कुल स्वतंत्र और व्यवस्थित शास्त्र निर्माण किया जो प्रमाण शास्त्र का एक भाग ही बन गया और जिसकी जोड़ का ऐसा छोटा भी ग्रन्थ इतर परंपराओं में नहीं बना। विभज्यवाद और मध्यम मार्ग होते हुए भी बौद्ध परंपरा किसी भी वस्तु में वास्तविक स्थायी अंश देख न सकी उसे मात्र क्षणभंग ही नजर आया। अनेकान्त शब्द[1] से ही अनेकान्त दृष्टि का आश्रय करने पर भी नैयायिक परमाणु, आत्मा आदि को सर्वथा अपरिणामी ही मानने मनवाने की धुन से बच न सके। व्यावहारिक–पारमार्थिक आदि अनेक दृष्टियों का अवलम्बन करते हुए भी वेदान्ती अन्य सब दृष्टियों को ब्रह्मदृष्टि से कम दर्जे की या बिल्कुल ही असत्य मानने-मनवाने से बच न सके। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि उन दर्शनों में व्यापक रूप से अनेकान्त भावना का स्थान न रहा जैसा कि जैन दर्शन में रहा। इसी कारण से जैन दर्शन सब दृष्टियों का समन्वय भी करता है और सभी दृष्टियों को अपने-अपने विषय में तुल्य बल व यथार्थ मानता है। भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि तत्त्व-ज्ञान के प्राचीन मुद्दों पर ही सीमित रहने के कारण वह अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अनेकान्त व्यवस्थापक शास्त्र पुनरुक्त, चर्वित चर्वण या नवीनता शून्य जान पड़ने का आपाततः सम्भव है फिर भी उस दृष्टि और उस शास्त्र निर्माण के पीछे जो अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाने की भावना जैन परम्परा में रही और जो प्रमाण शास्त्र में अवतीर्ण हुई उसका जीवन के समग्र क्षेत्रों में सफल उपयोग होने की पूर्ण योग्यता होने के कारण ही उसे प्रमाण-शास्त्र को जैनाचार्यों की देन कहना अनुपयुक्त नहीं।

ई० १९३९] [प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना का अंश]

१—न्यायभाष्य २. १. १८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org